उपाध्याय पद : स्वरूप और दर्शन

□श्री रमेश मुनि शास्त्री

[राजस्थानकेसरी श्री उपाध्याय पुष्कर मुनि के शिष्य]

भारतवर्ष के पुण्य प्रांगण में अनेक संस्कृतियों का उद्गम, संरक्षण एवं संवर्द्धन हुआ है। किन्तु शत सहस्र लक्षाधिक संस्कृतियों में भारत की प्राचीन एवं मौलिक दो संस्कृतियाँ हैं—एक है श्रमण संस्कृति, दूसरी ब्राह्मण संस्कृति। इन दोनों संस्कृतियों में कहीं एकरूपता है तो कहीं अनेकरूपता भी परिलक्षित होती है, तथापि यह कहा जा सकता है कि ये दोनों एक-दूसरे के समीप हैं।

श्रमण-संस्कृति जैन और बौद्ध धर्म से अनुप्राणित रही है। यह संस्कृति जीवन की संस्कृति है, इसकी समता सार्वभौम है। जैन एवं बौद्ध इन दोनों धाराओं ने अपने सुचिन्तन की सुशीतल-जलधारा से इसको अभिसिंचित किया है। यह महिमामयी संस्कृति आचार और विचार के समानता की प्रसूता-भूमि है, यही कारण है कि इसने अपने आँचल में चिर-अतीत की अद्भुत गरिमा को संजोए रखा।

जैन श्रमण-संस्कृति अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के वैचारिक उदात्त दृष्टिकोण की त्रिपुटी पर आधारित है। यह त्रिपुटी ऐसा प्रकाशस्तम्भ है, जिससे न केवल भारतीय जीवन अपितु सम्पूर्ण विश्व जीवन-दर्शन आलोकित है। इसकी वैचारिक उदारता दर्शन के क्षेत्र में एकान्तिक विचारणा का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है। वस्तुतः जैन संस्कृति व्यष्टिगत धारणा की अपेक्षा समष्टिगत धारणा के प्रति आग्रहशील है, अनुदार दृष्टिकोण के निर्मूलन के प्रयास के प्रति विशेष रूप से आस्थाशील है।

जैन वाङ्मय में 'श्रमण' शब्द की अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं। 'श्रम' शब्द अपने आप में अनेक तात्पर्यों एवं व्यापक अर्थ-गरिमा को समेटे हुए है। उससे अनेक रूप बनते हैं—श्रम, सम, शमन, सुमन। जो मोक्ष के लिये श्रम करता है वह श्रमण है। ज्योतिर्मय प्रभु महावीर का श्रमण-संघ बहुत ही विशाल था। अनुशासन, संगठन, संचालन संवर्द्धन आदि की दृष्टि से उसकी अप्रतिम विशेषताएँ रही थीं। प्रभु महावीर के नौ गण थे।[1] इन गणों की संस्थापना का प्रमुख आधार आगम-साहित्य की वाचना एवं धार्मिक क्रियानुशीलता की व्यवस्था था। गणस्थ श्रमणों के अध्यापन एवं पर्यवेक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य गणधरों पर था। जिन श्रमणों की अध्ययन व्यवस्था एक साथ रहती थी, वे सारे श्रमण एक गण में समाविष्ट थे, अध्ययन के अतिरिक्त अन्यान्य व्यवस्था में भी उनका साहचर्य एवं ऐक्यभाव था।

जैन-परम्परा में गणधर का एक गौरवशाली पद है, किन्तु संघ-व्यवस्था की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय,

---

१. स्थानांग सूत्र, ९. ६८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक पदों की सुन्दर व्यवस्था की गई,[1] वह वास्तव में उस युग में संघ का सर्वतोमुखी विकास, संरक्षण-संवर्धन का विशिष्ट उदाहरण था।

यहाँ पर उपाध्याय पद के सन्दर्भ में विचार-चिन्तन प्रस्तुत करना हमारा अभिप्रेत विषय है। इस पद के सम्बन्ध में जैनागमों में और उसके उत्तरवर्ती वाङ्मय में अत्यधिक मूल्यवान् सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि उपाध्याय पद भी जैन-परम्परा में एक गौरवपूर्ण पद रहा है।

जैनदर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधारित रहा है। ज्ञान और क्रिया—दो दोनों ही पक्ष जैन श्रमण-जीवन के अनिवार्य पक्ष हैं। जैन-साधक ज्ञान की आराधना में अपने आपको बड़ी ही तन्मयता से जोड़े। ज्ञानपूर्वक समाचरित क्रिया में आत्मिक निर्मलता की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-परिणत क्रिया की गरिमा है, ठीक उसी प्रकार क्रियान्वित ज्ञान की वास्तविक सार्थकता भी सिद्ध होती है। जिस साधक के जीवन में ज्ञान और क्रिया का पावन-संगम नहीं हुआ हैं, उसका जीवन भी ज्योतिर्मय नहीं बन सकता। तात्पर्य की भाषा में यह कहना सर्वथा संगत होगा कि जो श्रमण ज्ञान एवं क्रिया इन दोनों पक्षों में सामंजस्य स्थापित कर साधना-पथ पर अग्रसर होता रहेगा, वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में अधिक सफल बनेगा।

जैन-श्रमण-संघ में आचार्य के बाद दूसरा पद उपाध्याय का है, इस पद का सम्बन्ध अध्ययन से रहा है। प्रस्तुत पद श्रुतप्रधान अथवा सूत्रप्रधान है। यह सच है कि आध्यात्मिक साधना तो साधक-जीवन का अविच्छिन्न अंग है। उपाध्याय का प्रमुख कार्य यही है कि श्रमणों को सूत्र-वाचना देना।[2] उपाध्याय की कतिपय-विशेषताएँ ये हैं—आगम-साहित्य सम्बन्धी व्यापक और गहन अध्ययन, प्रकृष्ट प्रज्ञा, प्रगल्भ पाण्डित्य।

उपाध्याय का सीधा-सा अर्थ है—शास्त्र-वाचना का कार्य करना। प्रस्तुत शब्द पर अनेक मनीषी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार-चिन्तन किया है।

जिनके पास जाकर साधुजन अध्ययन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा गया है।[3]

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना में स्वयं निपुण होकर अन्य व्यक्तियों को जिनागमों का अध्ययन कराने वाले उपाध्याय कहलाते हैं।[4]

जिसके सान्निध्य में जाकर शास्त्र का पठन एवं स्वाध्याय किया जाता है, वह उपाध्याय कहलाता है। इसीलिए आचार्य श्री शीलांक ने उपाध्याय को अध्यापक कहा है।[5]

---

१. (क) स्थानांग सूत्र, ४, ३, ३२३ वृत्ति।
(ख) बृहत्कल्पसूत्र, ४ उद्देशक।

२. (क) बारसंगो जिणक्खाओ सज्जओ कहिओ बुह।
त उवइस्संति जम्हा, उवज्झया तेण वुच्चंति॥
—भगवती सूत्र, १. १. १, मंगलाचरण में आ०नि०गाथा, ९९४.
(ख) उपाध्यायः सूत्रदाता। —स्थानांगसूत्र, ३. ४. ३२३ वृत्ति।

३. उपेत्य अधीयते यस्मात् साधवः सूत्रामित्युपाध्यायः।
—आवश्यकनिर्युक्ति ३, पृष्ठ ४४९, आचार्य हरिभद्र।

४. रत्नत्रयेषूद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायाः।
—भगवती आराधना विजयोदया टीका—४६।

५. उपाध्याय अध्यापकः। —आचारांग : शीलांकवृत्ति सूत्र २७९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाध्याय शब्द की निर्युक्ति करते हुए कितना सुन्दर रूप से कहा है—'उ' का अर्थ है—उपयोगपूर्वक। 'व' का अर्थ है—ध्यान युक्त होना। तात्पर्य यह है कि श्रुत-सागर के अवगाहन में सदा-सर्वदा उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले उज्झा (उवज्झाय) कहलाते हैं।[1]

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने उपाध्याय शब्द पर गम्भीरता के साथ विशद चिन्तन कर अर्थ व्याकृत किया है।

जैन-आगम-साहित्य के परिशीलन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन श्रमण-संघ में जैसा महत्त्व आचार्य का रहा है, वैसा महत्त्व उपाध्याय का भी रहा है। यह ध्रुव सत्य है कि उपाध्याय का पद आचार्य के बाद आया है किन्तु इस पद का गौरव किसी भी प्रकार से कम नहीं है। स्थानांग सूत्र में आचार्य और उपाध्याय इन दोनों के पाँच अतिशयों का उल्लेख हुआ है। जैन-संघ में आचार्य का जितना सम्मान व गौरव है, उतना ही सम्मान और गौरव उपाध्याय पद का है। जैसे आचार्य उपाश्रय में प्रवेश करते हैं तो उनके चरणों का प्रमार्जन किया जाता है, ठीक इसी प्रकार उपाध्याय के चरणों का भी प्रमार्जन किया जाता है, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इसी सूत्र में अन्यत्र यह भी बताया गया है कि आचार्य और उपाध्याय के सात संग्रह-स्थान बताये हैं, जिनमें गण में आज्ञा, धारणा प्रवर्तन करने का दायित्व आचार्य उपाध्याय दोनों पर है।[3]

आचार्य तो संघ को अनुशासित रखने की दृष्टि से चिन्तन करते हैं, जबकि उपाध्याय श्रमण संघ की ज्ञान-विज्ञान की दिशा में अग्रगामी रहते हैं। उनका मुख्य कार्य है—श्रमण-संघ में श्रुतज्ञान की महागंगा प्रवाहित करना।

जैनागमों में आचार्य की अष्टविध सम्पदाओं का वर्णन प्राप्त होता है, वहाँ यह भी बताया गया है कि आचार्य आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं।[4] आचार्यश्री शिष्य-समुदाय को आगमों का गुरु-गम्भीर रहस्य तो समझा देते हैं किन्तु सूत्र-वाचना का जो कार्य है, वह उपाध्याय के द्वारा सम्पन्न होता है। यही कारण है कि उपाध्याय को सूत्र वाचना प्रदाता के रूप में माना गया है।[5] इसका अभिप्राय यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता एवं विशदता बनाये रखने का दायित्व उपाध्याय पर है। अनुयोगद्वारसूत्र में सूत्रोच्चारण के दोष बताते हुए उनसे आगम-पाठ की सुरक्षा करने की सूचना प्रदान की गई है और पदों के शिक्षित, जित, स्थित विशेषण दिये गये हैं।

संक्षेप में उनका वर्णन इस प्रकार है—

१. शिक्षित	२. स्थित
३. जित	४. मित
५. परिजित	६. नामसम
७. घोषसम	८. अहीनाक्षर
९. अनत्यक्षर	१०. अव्याविद्धासर
११. अस्खलित	१२ अमिलित

---

१. उ त्ति उवगरण वे ति वेयज्झाणएस्स होइ निद्देसे।
एएण होइ उज्झा एसो अण्णो वि पज्जाओ॥
—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृष्ठ ८८३।

२. स्थानांगसूत्र, स्थान ५।२, सूत्र ४३८.

३. स्थानांग, स्थान सूत्र ७, सूत्र ५४४,

४. दशाश्रुतस्कन्ध, चौथी दशा।

५. स्थानांगसूत्र ३।४।३२३ की वृत्ति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. अव्यत्याम्रेडित
१४. प्रतिपूर्ण
१५. प्रतिपूर्णघोष
१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त।

आगम पाठ को शुद्ध, स्थिर और यथावत् बनाये रखने का कार्य उपाध्याय का है, वस्तुतः उपाध्यायश्री को सूत्र-वाचना देने में कितना प्रयत्नशील और जागरूक रहना होता है, यह उक्त-विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है। आलंकारिक भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि उपाध्याय श्रमणसंघ-रूपी नन्दनवन के ज्ञान-विज्ञान रूप वृक्षों की शुद्धता एवं विकास की ओर सदा जागरूक रहने वाला एक उद्यानपालक है, कुशल माली है।

जैन साहित्य में उपाध्याय के २५ गुणों का प्रतिपादन मिलता है। उपाध्याय इन गुणों से युक्त हो, यह अपेक्षित है। उपाध्याय जैसे गौरवपूर्ण पद पर कौन प्रतिष्ठित हो सकता है, उसकी क्या योग्यता होनी चाहिए। यह भी एक गम्भीर प्रश्न है। क्योंकि इस पद पर आरूढ़ करने से पूर्व उस व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक और शैक्षिक-योग्यता की परीक्षा को कसौटी पर कसा जाता है। यदि कोई व्यक्ति इस पद के लिये अयोग्य है और वह इस पर आसीन हो जाता है तो वह इस पद का और शासन का भी गौरव घटायेगा ही, मलिन कर देगा। इसीलिये जैन मनीषी-चिन्तकों ने उपाध्याय की योग्यता के विषय में बहुत ही गम्भीरता के साथ विचार-चिन्तन किया है।

जो श्रमण कम से कम तीन वर्ष का दीक्षित हो, आचारकल्प अर्थात् आचारांग सूत्र व निशीथ का ज्ञाता हो, आचार-निष्ठ एवं स्व-समय और पर-समय का ज्ञाता हो एवं व्यंजनजात हो।[२] दीक्षा और ज्ञान की यह न्यूनतम योग्यता का जिस व्यक्ति में अभाव होता है वह उपाध्याय के महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त वह श्रमण २५ गुणों से युक्त होना भी अतीव आवश्यक है। पच्चीस गुणों की गणना में दो प्रकार की पद्धति दृष्टिगोचर होती है। पच्चीस गुणों की प्रथम पद्धति इस प्रकार मिलती है। ११ अंग, १२ उपांग, १ करणगुण, १ चरणगुण=२५।

ग्यारह अंगों के नाम इस प्रकार हैं—

१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग
३. स्थानांग
४. समवायांग
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति
६. ज्ञाताधर्मकथा
७. उपासकदशा
८. अन्तगडदशा
९. अणुत्तरोववाइयदशा
१०. प्रश्नव्याकरण
११. विपाकश्रुत

बारह उपांगों के नाम इस प्रकार हैं—

१. औपपातिक
२. राजप्रश्नीय
३. जीवाभिगम
४. प्रज्ञापना
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
६. सूर्यप्रज्ञप्ति
७. चन्द्रप्रज्ञप्ति
८. निरयावलिया
९. कप्पिया
१०. कप्पवडंसिया
११. पुप्फिया
१२. पुष्पचूलिका

१. व्यवहारसूत्र ३।३, ७।१९, १०।२६.
२. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६, पृष्ठ २१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करणगुण

आवश्यकता उपस्थित होने पर जिस आचार विधि का पालन किया जाता है, वह आचार-विषयक नियम करण युग कहलाता है।

चरणगुण

चरणगुण का अर्थ है—प्रतिदिन और प्रतिसमय पालन करने योग्य गुण। श्रमण द्वारा निरन्तर पालन किया जाने वाला आचार चरणगुण कहलाता है।

पच्चीस गुणों की दूसरी गणना इस प्रकार है—

१-१२. अंगों का पूरा रहस्य ज्ञाता हो।
१३. करणगुण सम्पन्न हो।[1]
१४. चरणगुण सम्पन्न हो।[2]
१५-२२. आठ प्रकार की प्रभावनाओं से युक्त हो।
२३. मनोयोग को वश में करने वाला हो।
२४. वचनयोग को वश में करने वाला हो।
२५. काययोग को वश में करने वाला हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है—जैन-श्रमणपरम्परा में उपाध्याय का कितना अधिक गौरवपूर्ण स्थान है और उनकी कितनी आवश्यकता है। उपाध्याय ज्ञान रूपी दिव्य-दीप को संघ में प्रज्वलित रखकर श्रुत-परम्परा को आगे से आगे बढ़ाते हैं।

□

---

१. करणसत्तरी—इसके सत्तर बोल हैं—

पिंडविसोही समिई भावणा पडिमा य इंदियनिग्गहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहं चेव करणं तु॥

—प्रवचनसारोद्धार, द्वार ६८, गाथा ५९६

२. चरणसत्तरी के सत्तर बोल हैं—

वय समणधम्मं संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव कोहनिग्गहाइहं चरणमेयं॥

—धर्मसंग्रह—३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org